जैनग्रंथों में शूद्र की सामाजिक एवं आर्थिक दशाः एक समग्र अध्ययन

डॉ0 राज कुमार

जवाहर कन्या +2 विद्यालय,

झींगनगर (बिहार शरीफ)

निबन्धसार/सारांश–

जैन साहित्य के अध्ययन से पता चलता है कि शूद्रों की दशा ईसा पूर्व छठी शताब्दी के बाद बेहतर होती चली गयी। ऋग्वैदिक काल में तीन वर्ग से उत्तरवैदिक काल में चार वर्ण का उदय हुआ। यह वर्ण व्यवस्था गुण कर्म पर आधारित था। कर्म ही वर्ण के पहचान थे। कर्म बोलते तो वर्ण जान लेते थे। उत्तरवैदिक काल में सबसे अधिक आबादी शूद्र वर्ण की थी। परम्परा से मान्य यह यज्ञ पुरुष के पैर से उत्पन्न हुआ, लेकिन वास्तविकता है कि यह आर्य और आर्य भिन्न दोनों के मेल से शूद्र वर्ण आया। आर्य में यह सामान्य विश वर्ग से उत्पन्न माना गया। सामाजिक अनुक्रम में इसका स्थान अन्तिम रहा। इसके कर्म थे शिल्प, पशुपालन, कृषि–श्रम आदि। यह एकमात्र विशेषाधिकार मुक्त वर्ण रहा। यह वर्ण–व्यवस्था गुण–कर्म पर आधारित होने के कारण चारों वर्ण में बेहतर मेल–मिलाप था। वैदिकोत्तर काल में वर्ण–व्यवस्था को जन्म आधारित करने की कोशिश प्रारम्भ हुई, इससे शूद्र को भारी नाराजगी हुई। इस दौर में शूद्र के तीन प्रकार माने गये– शिल्पी शूद्र, कम्भकार शूद्र और दास–भृत्य शूद्र। ऐसे शूद्र जो उत्पादन कार्य से सीधे जुड़े हुए थे शिल्पी शूद्र कहलाये। इनकी आर्थिक स्थिति अच्छी थी। ऐसे शूद्र जो किराये पर श्रमिक रूप में कार्य करते थे कम्भकार या भाटक शूद्र कहलाये। इनकी आर्थिक स्थिति सामान्य थी। ऐसे शूद्र जो द्विज सेवा से जुड़े थे, जो घरेलू दास या नौकर थे दास–भृत्य शूद्र कहलाये। इनकी आर्थिक स्थिति खराब थी। कहने का अर्थ यह है कि शूद्र में आर्थिक स्थिति कुछ के अच्छे, कुछ के खराब थे, लेकिन सामाजिक स्थिति सबकी खराब बतायी गयी। यही वजह है कि शूद्र सम्पूर्णतया ब्राह्मणवादी व्यवस्था से पूर्ण नाराज रहे। सामाजिक

स्तर पर शूद्र का पुनः वर्गीकरण कर दिया गया– अनिरवसित शूद्र और निरवसित शूद्र में। अनिरवसित शूद्र वे शूद्र हैं जो छुआछूत मान्यता से परे हैं, यानि जिनकी सम्पर्क में आने से उच्च वर्ण की शुद्दता नहीं प्रभावित होती है। इसलिए समस्त शिल्पी शूद्र और कम्भकार शूद्र को अनिरवसित कहा गया। निरवसित शूद्र वे शूद्र हैं जो अछूत और अस्पृश्य बताया गया। इनके द्वारा दिये गये दान–दक्षिणा और भोजन को ब्राह्मण नहीं ग्रहण कर सकता था यानि पहली बार अस्पृश्यता सम्बन्धी विचार का आगमन हुआ। इसलिए भला शूद्र कैसे खूश रह सकते थे? इसलिए इस दौर में शूद्र में भारी नाराजगी है।

संकेत शब्द–

शूद्र, अस्पृश्यता, वैदिकोत्तर काल, शिल्पी शूद्र, कम्भकार शूद्र, दास–भृत्य शूद्र, निरवसित शूद्र, अनिरवसित शूद्र।

परिचय–

वर्ण का उल्लेख सर्वप्रथम ऋग्वेद में हुआ, लेकिन ऋग्वेद के वर्ण का अर्थ रंग था। उत्तरवैदिक काल में वर्ण द्योतक है वर्ण–व्यवस्था का रंग का नहीं। ऋग्वैदिक काल के प्रारम्भिक दौर में आर्य समाज समतावादी था। न कोई वर्ग था, न कोई वर्ण, न जातियाँ थी, लेकिन ऋग्वैदिक काल के अन्तिम चरण में तीन वर्ग उभरा और इसके साथ समतावादी समाज का स्वरूप नष्ट हो गया। उत्तरवैदिक काल में वर्ग से वर्ण–व्यवस्था आ गयी तो समाज विषमतामूलक हो गया। चार वर्ण समान धरातल पर नहीं रहे, इसमें फर्क आ गया। सामाजिक सर्वोच्चता में प्रथम स्थान ब्राह्मण वर्ण, द्वितीय स्थान क्षत्रिय, तृतीय स्थान वैश्य और सबसे पीछे का स्थान शूद्र को हासिल हुआ। वर्ग आया था गुण–कर्म पर आधारित, वर्ण भी आया गुण–कर्म पर आधारित। इसलिए वर्ण–व्यवस्था कर्म आधारित व्यवस्था है, कोई जन्म आधारित व्यवस्था नहीं है। कर्म में बदलाव हो सकता है, कर्म में बदलाव होता है तो वर्ण में बदलाव होता है। इसलिए व्यवस्था में गतिशीलता है यानि वर्ण–व्यवस्था कठोर व्यवस्था नहीं है। वर्ण–व्यवस्था ने

आर्य समाज को चार हिस्से में बाँट दिया है। इसलिए इस व्यवस्था में कितनी भी अच्छाई हो इसकी प्रशंसा नहीं की जा सकती है। इसलिए विषमतामूलक समाज का वर्ण गड़बड़ाने लगा है। इसलिए लोग संकीर्ण होते चले गये, विवाह अपने ही वर्ण में होने लगा। इसलिए वर्ण–व्यवस्था ने विभाजन की रूप–रेखा तय कर दी। उत्तरवैदिक काल के इस व्यवस्था से किसी को ऐतराज नहीं है। उसे भी नहीं जिसकी अधिकार में कटौती की गयी। प्रथम तीन वर्ण विशेषाधिकार युक्त वर्ण है और चतुर्थ वर्ण (शूद्र वर्ण) विशेषाधिकार हीन वर्ण है। ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य वर्ण का शिक्षा से ताल्लुक रहा और इन्हें ही द्विजत्व संस्कार आयोजन का हक मिला, इसलिए ये तीनों द्विज वर्ण कहलाये, जबकि चौथा वर्ण (शूद्र वर्ण) छठी शताब्दी ईस्वी पूर्व से द्विजत्व संस्कार से वंचित हो गयी। इसलिए बहुत बड़ी आबादी शिक्षा से कट गया। चौथा वर्ण (शूद्र वर्ण) जिसकी आबादी सबसे अधिक थी वह शिक्षा से बाहर हुआ, विशेषाधिकार से बाहर हुआ और उसके मुख्य कर्म द्विज सेवा बता दिया गया। इसलिए उसकी आर्थिक स्थिति प्रारम्भ से ही कमजोर रही। दान लेने, यज्ञ कराने और अध्यापन का अधिकार ब्राह्मण वर्ण में निहित कर दिया गया, इसलिए सर्वोच्च विशेषाधिकार प्राप्त वर्ण ब्राह्मण वर्ण हो गया। सामाजिक, धार्मिक सर्वोच्चता ब्राह्मण वर्ण को, आर्थिक सर्वोच्चता वैश्य को, राजनैतिक सर्वोच्चता क्षत्रिय को, शिक्षा से सम्बद्धता ब्राह्मण–क्षत्रिय–वैश्य को, कृषि–व्यापार से सम्बद्धता वैश्य को, आर्थिक खुशहाली ब्राह्मण–क्षत्रिय–वैश्य को प्राप्त हुई, जबकि द्विज सेवा, लघु शिल्प, कृषि मजदूर और पशुपालन शूद्र वर्ण को प्राप्त हुआ। तमाम खुशहाली तीन वर्ग में बंट गयी, चौथा वर्ण (शूद्र) विशेषाधिकार मुक्त वर्ण रहा, जिसके कारण शूद्र वर्ण सबसे निम्न और कमजोर हालत में आ गया। इसलिए वर्ण–व्यवस्था जो आर्यों की देन थी वह एक पूर्ण विषमतामूलक सामाजिक व्यवस्था थी।

अध्ययन क्षेत्र–

जैन साहित्य में शूद्र वर्ण का स्वतंत्र अस्तित्व बना रहता है। इसके अध्ययन क्षेत्र में शूद्रों की उत्पत्ति को जानना भी महत्वपूर्ण है किन्तु जैन ग्रन्थों से इस सम्बन्ध में विशेष जानकारी नहीं हो पाती है। अतः ब्राह्मण ग्रन्थों के आधार पर वर्ण एवं जाति, अनुलोम–प्रतिलोम, वर्ण संकर और इसके परिणामस्वरूप जातियों की संख्या में हुई वृद्धि पर विचार किया गया है। तथ्यों को अधिक ठोस बनाने की दृष्टि से पालि साहित्य में वर्णित शूद्रों की व्याख्या की गयी है। बौद्ध ग्रन्थों के आधार पर वर्ण एवं जाति व्यवस्था के विरूद्ध बुद्ध द्वारा उठाये गये कदमों को प्रस्तुत करने के पश्चात् जैन ग्रन्थों में वर्णित शूद्रों की दशा पर विस्तृत विचार किया गया है। भिन्न–भिन्न जैन ग्रन्थों में शूद्रों का अध्ययन भिन्न–भिन्न रूपों में दिया गया है और इसलिए कुवलयमाला, आदिपुराण में वर्णित तथ्यों पर स्वतंत्र रूप से भी प्रकाश डाला गया है।

उद्देश्य–

(1) जैन ग्रन्थों में वर्णित शूद्रों की सामाजिक दशा का अध्ययन करना।

(2) जैन ग्रन्थों में वर्णित शूद्रों की आर्थिक दशा का अध्ययन करना।

शूद्र की दशा–

प्रारम्भिक वैदिक सामाजिक संरचना में वर्णो की जो सृष्टि हुई उसमें उनका एक निश्चित स्थान था। अंगों से उत्पन्न होने वाले सिद्धान्तों के अनुसार शूद्रों को चरणोत्पन्न माना गया था।

बौद्ध साहित्य में इस सम्बन्ध में स्पष्ट उल्लेख नहीं प्राप्त होता कि शूद्रों का लक्ष्य क्या था और उनका कार्य क्या था? जैसा कि अंगुत्तरनिकाय में ब्राह्मण के पूछने पर बुद्ध ने ब्राह्मणों, क्षत्रियों एवं वैश्यों के सम्बन्ध में बताया है, लेकिन शूद्र के सम्बन्ध में नहीं बताया है। किन्तु यह संकेत अवश्य मिलता है कि यह लोग मिट्टी का बर्तन बनाने वाले कुंभकार, माली का कार्य, आभूषण बनाने का कार्य, लोहे का कार्य करने वाले लोहार आदि के शिल्पों को स्वीकार कर

जीवन–यापन करते थे। इन्होंने कृषि–कर्म को भी अपना लिया था। इनके कार्यों से स्पष्ट विदित होता है कि इनका ग्राम–जीवन में बहुत बड़ा योगदान था। किन्तु इनमें कुछ ऐसे भी थे, जिनका जीवन अव्यवस्थित था। शूद्र जीविकोपार्जन के लिए इधर–उधर भ्रमण किया करते थे, तथा मजदूरी (श्रम) करते थे। इसके अतिरिक्त इनमें से कुछ सर्पोपजीवी (सपेरा) का कार्य करते थे, विभिन्न व्यवसायों के आधार पर इनकी पृथक्–पृथक् जातियाँ बन गयी थी। इस काल में वर्ण सम्बन्धी पूर्ववर्ती मान्यताएँ एवं उनके आधार क्रमशः टूटते जा रहे थे। अतः शूद्रों का स्वरूप अपने व्यवसायों के आधार पर ही पहचाना जाने लगा। इनकी अपनी कोई परिषद् नहीं होती थी। मज्झिमनिकाय में केवल 8 परिषदों का उल्लेख हुआ है– (1) क्षत्रिय परिषद् (2) ब्राह्मण परिषद् (3) गृहपति परिषद् (4) श्रमण परिषद् (5) चातुर्महाराजिक परिषद् (6) मार परिषद् (7) त्रायस्त्रिंश परिषद् (देवता) एवं (8) ब्रह्म परिषद्।

इन परिषदों में शूद्रों की गणना किसी भी परिषद् में नहीं हुई है। अतः किसी परिषद् के न होने के कारण वे इन किसी स्थान पर एकत्र हो सकते थे और न कोई निर्णय ही ले सकते थे।

इनकी अन्य जातियाँ–गोपालक (ग्वाले), पशुपालक या तृणहारक (घसियारे), काष्ठहारक (लकड़हारे), वनकार्मिक आदि भी मिलती हैं। इनकी आर्थिक स्थिति ठीक नहीं थी। किसी प्रकार वे केवल अपनी जीविका चलाते थे।

शूद्र वर्ण में चण्डाल जाति की हालत काफी खराब थी। चण्डालों को खाने के लिए भोजन, पहनने के लिए वस्त्र, रहने के लिए मकान, आने–जाने के लिए सवारी, प्रकाश के लिए तैल आदि कुछ भी नहीं मिलता था। इनकी पारिवारिक स्थिति व्यवस्थित नहीं और जीवन नैराश्यपूर्ण था। इस काल में इनकी ओर देखना भी प्याज्य माना जाता था। चण्डाल लोग दण्ड प्राप्त अपराधियों को शारीरिक दण्ड देने के लिए नियुक्त होते थे। वे लोग शव धोने का कार्य

भी करते थे। चित्तसंभूत जातक से स्पष्ट हो जाता है कि इनको विद्याध्ययन का अधिकार नहीं था। इनका निवास स्थान ग्राम एवं नगर के बाहर और इन्हें देखना पाप समझा जाता था। देखने पर आँख तक धोने का प्रसंग मिलता है। इनको लोग मारते भी थे, इनकी जाति इनके लिए दुःख का कारण थी। इनकी अपनी एक भाषा थी, क्योंकि इसी जातक में यह बताया गया है कि दो चण्डाल अपने गोत्र और नाम को छिपाकर एक गुरुकुल में अध्ययन हेतु प्रविष्ट हो गये। एक स्थान पर आचार्य को भोजन का निमंत्रण मिला। उक्त दोनों शिष्य भी भोजन के लिए वहाँ गये। वहाँ उष्ण (गरम) खीर खाने से उनका मुख जल गया तो घबराकर वे अपनी चण्डाली भाषा में ही बात करने लगे। गुरु ने उनकी भाषा समझकर उन्हें डाँटा और उन्हें गुरुकुल से निकाल दिया। इससे स्पष्ट है कि उस काल में चण्डाल अपने सामाजिक जीवन स्तर को ऊँचा उठाने के लिए शिक्षा प्राप्त करना चाहते थे, और अपने नाम–कुल को छिपाकर वे गुरुकुलों में प्रविष्ट हो जाते थे।

शूद्र आरम्भकाल से ही बड़ी उपेक्षित दशा में रहते आए हैं। महावीर ने उनकी दशा सुधारने का प्रयत्न किया, लेकिन फिर भी वर्ण और जाति सम्बन्धी प्रतिबंध दूर नहीं किये जा सके। उत्तराध्ययन की टीका में चित्त और सम्भूत नाम के दो मातंग दारकों की कथा आती है। दोनों अत्यन्त सुन्दर थे और साथ ही गंधर्व–विद्या में निपुण थी। एक बार मदन महोत्सव के अवसर पर दोनों भाईयों की टोली गाती–बजाती बनारस से होकर निकली, जिसने सभी को मुग्ध कर दिया। लेकिन ब्राह्मणों को बहुत ईर्ष्या हुई। परिणाम यह हुआ कि दोनों मातंग पुत्रों को खूब मारा गया, पीटा गया और नगर से निकाल दिया गया। कृषि अपनाने के कारण शूद्र वैश्य हो रहे थे तथा आर्थिक सम्पन्नता के कारण उनको सम्मान मिलने लगा था। कुवलयमाला में उल्लिखित धनदेव (शूद्र) का भी सार्थवाह होने के कारण सोपारक के व्यापारिक संगठन द्वारा सम्मानित किया जाना इस बात का प्रमाण है।

जाति–जुगुत्सितो में पाण, डोंब और मोरात्तिय का उल्लेख है। मातंगों को जाति का कलंक माना जाता था। पाणों को चण्डाल भी कहा गया है। वे लोग बिना घर बार के केवल आकाश की छाया में निवास करते थे और मुर्दे ढोने का काम किया करते थे। डोबों के घर होते थे। वे गीत गाकर और सूप आदि बनाकर अपनी आजीविका चलाते थे। उन्हें कलहशील, रोष करने वाले और चुगलखोर बताया है। किणिक वाधों के चारों ओर तांत लगाते, और वध्य स्थान को ले जाये जाते हुए पुरुषों के सामने बाजा बजाते। सोवाग (श्वपच) कुत्तों का मांस पकाकर खाते और ताँत की बिक्री करते। वरूड़ रस्से बँटकर आजीविका चलाते। ये सब जातियाँ अस्पृश्य कही जाती थी।

मनु बताते हैं कि जब कोई ब्राह्मण किसी शूद्र नारी से विवाह करता तो उससे उत्पन्न कन्या पारशव कहलाती थी और यदि वह पारशव लड़की किसी ब्राह्मण से विवाहित होती और पुनः इस सम्मिलिन से उत्पन्न लड़की किसी ब्राह्मण से विवाहित होती तो इस प्रकार की सातवीं पीढ़ी ब्राह्मण होती अर्थात् जात्युत्कर्ष होता था। ठीक इसके प्रतिकूल यदि कोई ब्राह्मण किसी शूद्रा से विवाह करता और पुत्र उत्पन्न होता था तो वह पुत्र पारशव कहलाता और जब यह पारशव पुत्र किसी शूद्रा से विवाहित होता और उसका पुत्र पुनः वैसा करता था तो इस प्रकार सातवीं पीढ़ी में पुत्र केवल शूद्र हो जाता था। इसे जात्यपकर्ष कहा जाता था।

अंतावसाई को शूद्र पुरुष एवं वैश्य नारी की संतान कहा गया है। इनके समझ वेद–पाठ वर्जित था। इन्हें गवाही के अयोग्य ठहराया गया है। आयोगव को शूद्र पुरुष तथा वैश्य नारी से उत्पन्न प्रतिलोम संतान कहा जाता है। आयोगव की वृत्ति लकड़ी काटना था। उग्र को क्षत्रिय पुरुष एवं शूद्र नारी से उत्पन्न संतान जिसे वैश्य एवं शूद्रा नारी की संतान को मारकर खानेवाले मनुष्य थे। कटकार को वैश्य पुरुष एवं शूद्रा नारी के चोरिक विवाह (गुप्त सम्बन्ध) से उत्पन्न संतान माना गया है। क्षता को शूद्र पिता एवं क्षत्रिय माता की प्रतिलोम संतान कहा गया है। यह जालों से मृग पकड़ता, जंगल में जंगली पशुओं को मारता तथा रात्रि में लोगों को

जगाने के लिए घंटी बजाता था। चक्री को शूद्र पुरुष एवं वैश्य स्त्री की संतान जो तेल, खली या नमक का व्यवसाय करती थी। सम्भवतः यह तैलिक (तेली) जाति थी।

शूद्र (जैन ग्रन्थ) दो प्रकार के थे– कारू और अकारू। धोबी आदि शूद्र कारू कहलाते थे और उनसे भिन्न अकारू। कारू शूद्र भी स्पृश्य और अस्पृश्य के भेद से दो प्रकार के थे। समाज से बाहर रहने वालों को अस्पृश्य और जो लोग समाज के अन्दर रहते थे, वे स्पृश्य कहलाते थे। जैसे नाई, सुवर्णकार इत्यादि।

वर्ण–व्यवस्था का आधार– 1. श्रुत–शास्त्र ज्ञान और तप, 2. जन्म के स्थान पर आजीविका – कर्म की स्थिरता, 3. वर्ग चेतना का विकसित रूप– विभिन्न वर्ग के पारस्परिक सम्बन्धों का निर्वाह, 4. सामाजिक स्थिति का निर्वारण, 5. व्यवहारों पर नियंत्रण, 6. मानसिक सुरक्षा प्रदत्ति और 7. मानसिक सुरक्षा था। जाति या वर्ण–व्यवस्था के कारण धार्मिक चेतना वर्ग विशेष में केन्द्रित रहती थी। वर्ग विशेष में कला, शिल्प एवं अन्य सांस्कृतिक उपकरणों का विकास सरलतापूर्वक होता था। सीमित वर्ग में अधिक संगठन पाया जाता था। जाति–व्यवस्था द्वारा सामाजिक संरक्षण होता था। आजीविका पर आधृत जाति–व्यवस्था राजनीति को स्थिरता प्रदान करती थी। जाति–व्यवस्था का जैन धर्म के कर्म–सिद्धान्त के साथ मेल नहीं बैठता, पर समाज व्यवस्था के लिए इसकी उपयोगिता थी। इस व्यवस्था में भौगोलिक, सामाजिक, राजनैतिक, धार्मिक और आर्थिक कारणों की अंतर्क्रियाएँ प्रतिफलित थी। आर्थिक जीवन के विकास के लिए श्रमविभाजन परमावश्यक था। उद्योग–धंधों का विकास भी श्रमचातुर्य से ही होता था। शूद्र वर्ण को धर्म–साधन का अधिकारी बताया गया है। जिनसेन ने आदिपुराण में तप और शास्त्र ज्ञान को ब्राह्मण वर्ण का कारण माना है। जातिनामकर्म के उदय से उत्पन्न हुई मनुष्य जाति एक ही था, पर आजीविका के भेद से होने वाले भेद के कारण जाति चार प्रकार की होती थी। व्रतसंस्कार से ब्राह्मण, शास्त्रधारण से क्षत्रिय, न्यायपूर्वक धनार्जन से वैश्य और सेवावृत्ति अथवा नीचवृत्ति का आश्रय लेने से शूद्र कहलाता था। वर्णानुसार आजीविका का

विधान था। अपने वर्ण की आजीविका को छोड़कर अन्य वर्ण की आजीविका करने वाला दण्ड का भागी होता था। एक ही वर्ण के अन्तर्गत कई जातियाँ–उपजातियाँ पाई जाती थीं। अतः वर्ण व्याप्य था और जाति व्यापक।

जैनसूत्रों में कर्म, शिल्प अथवा जाति से हीन (जुंगिय) समझे जाने वाले लोगों का उल्लेख है। कर्म और शिल्प से हीन समझे जाने वालों में स्त्री, मोर और मुर्गे पालने वाले, चर्मकार, नाई (णहाविय), धोबी (सोहग, णिल्लैव), नट, नर्त्तक, लंख, रस्सी का खेल दिखाने वाले बाजीगर, व्याध, खटीक और मच्छीमारों की गणना की गयी है। अंगारकर्म (कोयला बनाने का व्यापार), वनकर्म (जंगल काटने का व्यापार) शकटकर्म (गाड़ी से आजीविका चलाना), भाटकर्म (बैलगाड़ी भाड़े पर चलाना), स्फोटकर्म (हल चलाकर खेती करना), दंतवाणिज्य, लाक्षवाणिज्य, केशवाणिज्य, रसवाणिज्य, विषवाणिज्य, यंत्रपीड़नकर्म, निलीछनकर्म (बैलों को बधिया करना), दावाग्रिदापन (जंगलों में आग लगवाना), सरोवर, द्रह और तालाब का शोषण तथा असतीपोषण को निकृष्ट माना जाता था।

स्थानांगसूत्र में 6 प्रकार के दास बताए हैं– कुछ लोग जन्म से ही दासवृत्ति करते (गर्म), कुछ को खरीदा जाता (कीत), कुछ ऋण न चुका सकने के कारण दास बना लिए जाते (ऋणक), कुछ दुर्भिक्ष के समय दासवृत्ति स्वीकार करते, कुछ जुर्माना आदि न दे सकने के कारण दास बन जाते और कुछ कर्जा न चुका सकने के कारण बंदीगृह में डाल दिये जाते हैं। कोशल देश के सम्मत नामक किसी कुटुंबी ने जैन दीक्षा ग्रहण कर ली थी। जब वह साधु अवस्था में परिभ्रमण करता हुआ अपने गाँव पहुँचा तो उसके कुटुम्ब में केवल उसकी एक विधवा बहन बची थी। बहन ने हर्षित होकर अपने भाई का स्वागत किया। किसी बनिए की दुकान से वह दो पली तेल उधार लाई और उसने अपने भाई के आहार का प्रबन्ध किया, उस दिन वह अपने भाई से धर्म श्रवण करती रही, इसलिए कोई मजदूरी वैगरह न कर सकने के कारण, बनिए का तेल वापिस न कर सकी। दूसरे दिन, उसका भाई वहाँ से विहार कर गया।

उसका सारा दिन शोक में ही बीता, इसलिए अगले दिन भी वह कोई काम न कर सकी। तीसरे दिन, वह अपना खाना–पीना जुटाने में लगी रही, इसलिए तीसरे दिन भी बनिए के ऋण से मुक्त न हो सकी। यह ऋण प्रतिदिन दुगुना–दुगुना होता जाता था। 2 पली से बढ़ते–बढ़ने यह तेल एक घटप्रमाण हो गया। दुकानदार ने उससे कहा, या तो तुम कर्ज चुकाओ, नहीं तो गुलामी करनी पड़ेगी। विधवा ने लाचार होकर दुकानदार की गुलामी स्वीकार कर ली।

जिसे ऋणग्रस्त होने के कारण दासवृत्ति स्वीकार करनी पड़ी हो, ऐसा व्यक्ति यदि दीक्षा ग्रहण करना चाहे तो उसे दीक्षा का निषेध था। ऐसे व्यक्ति को यदि कहीं परदेश में दीक्षा दे दी जाती और संयोगवश साहूकार उसे पहचान लेता और उसे जबर्दस्ती अपने घर ले जाना चाहता तो आचार्य गुटिका आदि के प्रयोग से अपने दीक्षित शिष्य के स्वर में परिवर्तन पैदा कर अथवा विद्या, मंत्र अथवा योग के बल से उसे अन्य स्थान को भेजकर या कहीं छिपाकर उसकी रक्षा करता था। ऐसे साधन के अभाव में नगर के प्रधान को वश में करके, पाखण्डी साधुओं की सहायता लेकर अथवा सारस्वत, मल्ल आदि बलवान गणों की सहायता प्राप्त कर, अपने शिष्य की रक्षा आचार्य द्वारा की जाती थी। यह सब सम्भव न होने पर विद्या आदि के बल से धन कमाकर और उसका कर्जा चुकाकर दीक्षित साधु को दासवृत्ति से मुक्त करने का विधान था।

आदि पुराण में जिनसेन ने लिखा है कि– जीवन वृत्ति एवं मनुष्यों की कुल की तरह इकट्ठे रहने का उपदेश देने के कारण कुलकर कहलाये। कुलकरों ने अपराधियों के लिए ही ''हा'' ''मा'' ''धिक'' का दण्ड व्यवस्था प्रतिपादित की। ''हा'' का अर्थ है, खेद है कि तुमने ऐसा कार्य किया। ''मा'' का अर्थ है आगे से ऐसा कार्य मत करना और ''धिक'' का अर्थ है कि धिक्कार है तुमने ऐसा कार्य किया। इस श्रेणी में आगे चलकर भरत चक्रवर्ती की तुल्य रूप से गणना की गयी, जिन्होंने अपराधों को नियंत्रित करने के लिए बध, बन्धन आदि शारीरिक दण्ड की व्यवस्था प्रवर्तित की।

निष्कर्ष–

वर्ण–व्यवस्था के तहत् चार वर्णों में सबसे अन्तिम पायदान पर शूद्र वर्ण को रखा गया है। इसकी सदस्य संख्या सबसे अधिक है। इस वर्ण को वैदिकोत्तर काल से अध्ययन से बाहर कर दिया गया, जिसके कारण बहुत बड़ी आबादी शिक्षा से वंचित हो गये। शूद्र वर्ण में आर्य तत्व और आर्य भिन्न तत्व दोनों का समावेश है। इस वर्ण के कर्म थे– लघु शिल्प, पशुपालन, कृषि–मजदूरी और अन्य तीन वर्ण की सेवा करना। इस वर्ण में कुछ को छुआछुत से परे माना गया और कुछ को अस्पृश्य माना गया। जो अस्पृश्य बने वे आर्थिक, सामाजिक रूप से दयनीय स्थिति में पहुँच गये। वर्ण से बाद में जाति का आगमन हुआ। इस जाति के आने के बाद और वर्णसंकर जातियों के उद्भव होने से कुछ निम्न जातियों की हालत बद से बदत्तर हो गयी।

संदर्भ सूची–

आदिपुराण

कुवलयमाला

निशीथचूर्णी

उत्तराध्ययनसूत्र

आवश्यकचूर्णी